Hkkjrh; nfyr dfork % l`tu vkj ljkdkj

& ik- foey Fkkjkr

स्वतंत्रता मनुष्य की चेतना में बसी हुए एक सहज प्रवृत्ति है, इसे छीनने या दबाने की कोशिश करने पर स्वभावतः यह प्रबल रूप लेकर मुक्ति का मार्ग खोज लेती है। आधुनिक काल में मुक्ति के ऐसे संघर्षों में भारत का स्वतंत्रता संग्राम और अफ्रीका का रंगभेद विरोधी संघर्ष इसका लोमहर्षक इतिहास है। जिसने गुलामी को झेला हो वही आजाद होने का अर्थ भी समझ सकते हैं। आजादी का हर वर्ष जश्न मनाने वाले आसानी से भूल जाते हैं कि इसी भारतवर्ष में सदियों पुरानी चातुर्वर्ण्य की मान्यता पर बनी समाज व्यवस्था जीवित है और उसने पंचम वर्ण के रूप में अस्पृश्य की निर्मिति केवल चार वर्णों के लाभ और सुविधा को ध्यान में रखकर की थी। तीन हजार वर्ष पूर्व लिखे गए 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ में चार वर्णों के कार्य, उनके आपसी संबंध, बंदिशों और अस्पृश्य के लिए विधि–विधान का निर्धारण कर उसे अपवित्र, अवर्ण बनाकर सबसे नीचे रखा। मानवता को लज्जित करने वाली यह अमानवीय परंपरा आज के स्वतंत्र इक्कीसवीं सदी के भारत में आधुनिक कहे जाने वाले समाज में अपने उसी घृणित रूप में कायम है। यह मानवता पर ही नहीं देश की स्वतंत्रता पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। संविधान ने इस देश को स्वतंत्र गणतंत्र का रूतबा देकर वंश, जाति, धर्म, भाषा, प्रांत और लिंग आधारित भेदभाव जैसी पुरातन ब्राहमणवादी परंपराओं को तिलांजली दी और सभी को समान नागरिकता का अधिकार दिया। समता, स्वतंत्रता, भाईचारा और न्याय जैसे मूल्यों की रक्षा के लिए राज्यों का निर्माण किया गया। प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा और विकास के लिए राज्य को जिम्मेदारी सौंपी गई। देश के संविधान निर्माता डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की दूरदृष्टि ही थी कि अस्पृश्यता निवारण कानून द्वारा अछूतों की सुरक्षा के प्रावधान किए गए। उन्होंने अपनी 'जातिप्रथा–उन्मूलन' नामक पुस्तक में जातिप्रथा की क्रूरता के बारे में लिखा है ''चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ग सीधी कार्रवाई करने में पूर्णतः अशक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते थे, और बिना हथियारों के वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सभी हलवाहे थे या हलवाहे बना दिए गए थे। और उन्हें हलों को तलवारों में बदलने को कभी भी अनुमति नहीं दी गई। उनके पास संगीने नहीं थीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया, उन्हें अपने छुटकारे का न तो रास्ता मालूम था और न ही उनके पास साधन थे। उन्होंने अनंत दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया, जिससे उन्हें कभी छुटकारा नहीं मिल सकता था।''

वर्ण–जाति व्यवस्था की ही क्रूरता का परिणाम है कि तीन हजार से अधिक समय तक अछूत इस व्यवस्था में उत्पीड़न के शिकार हुए, बहिष्कृत बस्तियों में रहने की अपमानजनक त्रासदी को आज तक झेल रहे हैं।

दलित वर्ग के पास यातना और वेदना के अनुभवों का उफनता हुआ समुंदर हैं। जीवन के किनारे को छूती हुई पीड़ा की एक दर्दभरी कहानी है। इस विशिष्ट त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति ने मानव जीवन के छिपे हुए सत्य को उजागर कर दिया। सृजन के क्षेत्र में पहली बार इस विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति से उजागर हुए समाज व्यवस्था के इस सत्य को कोई नकार नहीं सका और न ही रोक सका। मराठी तथा अन्य भाषाओं में भी इस अनोखी अनुभूति की अभिव्यक्ति से लेखन का क्षेत्र चकित था। उन्हें दर्द का यह उफनता समंदर कभी नज़र नहीं आया, यह उनकी संकुचित दृष्टि ही थी। विजय तेंडुलकर जैसे समर्थ नाटककार ने इसे अपनी भूल मानते हुए स्वीकार किया था ''मेरी अपनी दुनिया से केवल कुछ कदमों पर यातनाओं से जर्जर दुनियाँ बसी है, इसे मैं जान ही न पाया। मेरी दृष्टि ही संकुचित थी और अभिजात्य अहं भी था। नामदेव ढसाल की कविता ने इस दूसरी दुनिया को देखने समझने का

अहसास मुझमें जगाया।'' लेकिन हिन्दी में अभी तक भी साहित्यिक आलोचना के अभिजात्य क्षेत्र से दलित साहित्य बहिष्कृत ही रहा। आलोचना के एकछत्री साम्राज्य के कुटील सामंतवादी आलोचक साहित्य की विशिष्ट धारा के रूप में मान्य, दलित चेतना साहित्य को नकारकर जाति के सवाल को एक 'घिसा–पिटा मुद्दा' मानते हैं। वामपंथ भी पिछले सत्तर वर्ष से भी अधिक समय में देश के दलित वंचित और गरीबों की गरीबी का मूल कारण वर्गवादी सिद्धान्त के तहत मानते रहे। वे इसी बहस में उलझे रहे कि जाति अधिरचना है, अथवा व्यवस्था से नियंत्रित सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का आधार है। वे इसे न समझने का नाटक ही करते आए। जाति की सच्चाई को नकारकर अहंतुष्टि और सुपरबुद्धिजीवी होने के भ्रम में बूढ़ी हो चुकी वाम विचारधारा अभी तक जातीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई। दलित चेतना के साहित्य ने ऐसे सामंतवादी और जातिवादी अहं की अपनी रचनात्मकता से जवाब देकर नेस्तनाबूद कर दिया है। सदियों से उपेक्षित वर्ग के भीतर जगे आत्मबोध का यह साहित्यिक आविष्कार था। जिसकी पृष्ठ भूमि बहुत पहले तैयार से तैयार हो चुकी थी।

दलित विचारकों, चिंतकों और लेखकों को संबोधित करते हुए डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने कहा था –

''हमारे देश में उपेक्षितों और दलितों की बहुत बड़ी दुनिया है। इसे भूलना नहीं चाहिए। उनके दुःखों को उनकी व्यथाओं को पहचानना जरूरी है और अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी में सच्ची मानवता है।''

डॉ. आंबेडकर ने दलित चिंतकों, लेखकों को लेखकीय कर्तव्य के प्रति न केवल सचेत किया बल्कि शोषण मूलक संस्थाओं को समूल उखाड़ने का आवाहन भी किया।

संघर्ष, विद्रोह और नकार ने सृजन की भूमि तैयार की और इस सृजित दलित साहित्य के दो लक्ष्य थे। दलित–वंचितों की व्यथा, पीड़ा, यातनाजनित अनुभवों की अभिव्यक्ति और सोपानीकृत समाज व्यवस्था को बदलने के लिए धर्मसंस्थाओं का विरोध तथा परंपराओं से विद्रोह। युवा कवि, लेखकों द्वारा स्वीकार की गई प्रतिबद्धता ही दलित लेखन की क्रान्तिकारी भूमिका होगी। यह सामाजिक–सांस्कृतिक बदलाव के लिए चुनौती भरा आवाहन था, जिसने थोड़े ही समय में आंदोलन का रूप ले लिया। सामाजिक न्याय के लिए दलित वर्ग को स्वयं ही यह निर्णय लेना था और चातुर्वर्ण्यव्यवस्था द्वारा निर्मित अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था और ब्राहमणवादी मानसिकता को बदलना था। न्याय और समतावादी जनतांत्रिक समाजवाद की स्थापना का क्रांतिकारी दलित युवा लेखकों का सपना था। अभिजात्यों की यथास्थितिवादी मानसिकता को बदले बिना यह संभव नहीं है। वे यह भी जान चुके थे कि अभिजात्य साहित्य में दलित जीवन की सच्चाई की अभिव्यक्ति ढूंढ़ने से भी नहीं मिलती वह किसी भी प्रकार से दलितों वंचितों का साहित्य नहीं हो सकता। दलित जीवनानुभूति का परिवर्तनवादी स्वर इसीलिए नृशंस व्यवस्था के विरोध में अस्तित्व में आया। दलित साहित्य ने कलावादी मूल्यों को तोड़ कर नये जीवनवादी मूल्यों को स्वीकारा साहित्य कला की यथास्थितिवादी कसौटियों में छिपे अभिजात्यों के अहं को दलित लेखक समझ चुके थे। ज्ञान की परंपराओं से हजारों वर्षों तक दूर रखे गए दलित वंचितों को मध्यवर्गीय भाषा और सौदर्य शास्त्रीय आडंबर आकर्षित न कर सके। नए आलोक से मिली दृष्टि से अब उसकी कोशिश शुरू हुई कि कैसे समता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित समाज में बहुजन को सम्मान और अधिकार मिलेगा। इसलिए जाति द्वेष और तिरस्कार को जन्म देने वाली व्यवस्था के निर्मूलन के लिए प्रतिबद्धता का संकेत भी दे रहा है–

मेरे रक्त में/असंख्य सूर्यबिंब जन्म ले चुके/
कब तक सहेंगे घोर बंदिवास/क्यों बने रहेंगे युद्धबंदी?

वह देखो मेरी अस्मिता आकाशा तक फैल गई/
मैं भी जिंदाबाद की घोषणा करूंगा/
क्योंकि मेरे रक्त में असंख्य सूर्य जन्म ले चुके/
जो इस शहर–शहर में चिंगारी भी देगें।

– नामदेव ढसाल

दलित रचनाकारों की रचनाओं में आजादी का अहसास, अभिव्यक्ति का दायरा साहित्य तक सीमित नहीं रहा, अब तो राजनीतिक भागीदारी के सपनों को साकार करने की चाहत में फैल चुकी है। मराठी दलित साहित्य से निर्मित आत्मबोध की चेतना अब आकाशभर में फैल चुकी है। दलित साहित्य का आंदोलन अब भारतीय दलित साहित्य आंदोलन का रूप ले चुका है। आज हमें हिन्दी के अलावा मराठी, तेलुगू, कन्नड, तमिल, पंजाबी, उड़िया, बंगला, असमी, कोकणी, भोजपुरी और मलयालम भाषाओं में दलित साहित्य का अस्तित्व दिखाई दे रहा है। डॉ. आंबेडकर दर्शन से आई आत्मसजगता के जरिए दलित लेखक अब क्रांतिधर्मी साहित्य का सृजनकर्ता है, जो ब्राह्मणवाद के विरुद्ध है–

उदास हूँ कि कैसे पहनी सदियों तक बेड़ियाँ
हाथियो का झुंड फँसा हो दलदल में
वैसी फंसी रही आशाएं और मंजिले
पत्थर तले दबे थे हाथ मगर रूदन नहीं
कितने जन्मों से सहा बंदिवास
किसने रचा था यह षडयंत्र।

–दया पवार

सदियों से गांव सिवान से दूर रखी गई दलित बस्तियाँ जाग रही हैं। बाहरी दुनिया के साथ–साथ बस्ती में फैले घोर अज्ञान गरीबी और रूढ़ी परंपराओं की गुलामी से भी उन्हें संघर्ष करना है। इसलिए संघर्ष की भाषा कोमल, दयनीय अथवा शालीन नहीं हो सकती। प्रस्थापित व्यवस्था के विरोध में उठी आवाज में विद्रोह, संताप और अंगार ही होगा। अब हिन्दी या अन्य किसी भाषा के सनातनी आलोचक यह कहते हुए संकोच करेंगे कि साहित्य के मानदंडों पर दलित रचनाओं को खरा उतरना ही होगा, तब ही वह साहित्यिक रचनाओं का रूतबा पा सकेगी।

मुक्ति की आस में विद्रोह करने वाले मुक्तिकामी लेखक क्यों कर जातिश्रेष्ठता के जड़वादियों की शर्ते मंजूर करे, सदियों से समता, न्याय, स्वाधीनता और सम्मान के लिए जातिप्रथा की बंदिशों को खत्म करने की राह वे चल पड़े हैं। कवि सजगता का संकेत इन तीखें शब्दों में अभिव्यक्त करता है–

मत भूलो कि अब
मेहनतकश कन्धे
तुम्हारा बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं हैं।
देखो!

बन्द किले से बाहर
झाँ कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।
बछेड़े मार रहे हैं फुर्री
बैल धूप चबा रहे हैं
और एकलब्य
पुराने जंग लगे तीरो को
आग में तपा रहा है।

—मलखान सिंह

दलित कवि का यह तेवर संघर्ष के अलाव में पककर आता है, वह जानता है कि अब तक की सहनशीलता और कर्मसिद्धान्त के झूठ से भयभीत दलित वर्ग को दास्यत्व से मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक वह स्थापित मूल्यों से सीधे नहीं टकराता। बाबा साहेब ने कहा था ''गुलाम को जब यह अहसास होगा कि वह गुलाम है तो उन बेड़ियों को खुद ही काटकर फेंकेगा।''

पंजाबी के एक सशक्त हस्ताक्षर मदनवीरा ने गुलामी का वह दर्दनाक अहसास और मुक्ति की आकांक्षा की ताकत को घोड़े की प्रतीकात्मक शक्ति के रूप में दर्शायी है—

घोड़े के पास। सिर्फ हां में हिलाने के लिए सिर है
नर्म पीठ है
और दिशाहीन दौड़ के लिए चार टांगे हैं
वह दौड़ता है सवार के हुक्म पर
रुकता है सवार की मर्जी पर
हिनहिनाता है सवार के इशारे पर
बैठता है, कान उठाता है, आंखें खोलता है — सवार की हुंकार पर
घोड़ा नहीं जानता कि वह पैरों से खोद सकता है धरा
दुलत्तियों से तोड़ सकता है सवार का चेहरा.....

सामाजिक न्याय और अधिकार के लिए संघर्षरत दलित साहित्य के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर और चिंतक दया पवार की कविता में अस्पृश्यता के यातना की जो सघन पीड़ा अभिव्यक्त होती है वह इस विषम समाज व्यवस्था की पाशविकता को सरेआम बेपर्द करती है—

खांडव वन जलाने वाले परंपरागत हाथ
आज भी निपुणता से रचते हैं अग्निकांड
देखो रे देखो
आग की लपटों ने आकाश घेर लिया
जंगली हिंसक श्वानों की लपलपाती जिव्हाएं जैसी

Hkkjrh; nfyr lkfgR; % foopuk

बयालीस इन्सानों की रची चिंता
चारे की तरह/रखा एक के ऊपर एक
लगाया पलीता आत्मतृप्ति के लिए
जैसे चढ़ाए हों बली यज्ञवेदी पर
नन्हें बालकों को आग में फेंकते
शर्मायी नहीं आँखें और नहीं झुकी पलकें
कपूर की तरह जले वे इन्सान बयालीस
और उनकी एक आह तक नहीं।

– दया पवार

बेलछी में बयालीस दलितों को आग में झोंककर सवर्णों ने अपनी अहं की तुष्टि कर ली थी। दलित ने मजदूरी बढ़ाने की माँग की जो कुरमी जाति के लिए असहनीय बात थी, दलितों को बोलने का हक बिहार के भूमि मालिक बर्दाशत न कर सके। यह थी अपनी हैसियत से ऊपर उठकर बोलने की सजा। मनुस्मृति में दर्ज सजाओं को अंजाम आधुनिक समय के नृशंस जमीन मालिक ने दिया था। जाति की हदें पार करने की जुर्रत करने वाले दलित जिंदा जलकर राख की ढेरी में बदल गए थे। जनतांत्रिक देश में हिंदू धर्मशास्त्रों का ऐसा आतंक जो हमारे देश के जनतांत्रिक होने की मान्यता को ही झुठलाता है। जिस देश के संविधान का प्रीअंबल यह कहता हो कि ''यह देश समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुभाव जैसे मूल्यों को महत्वपूर्ण मानता है। तो असमता, भेदभाव और दमन का अधिकार अपने आप तय करने वाली व्यवस्था और जाति के वर्चस्व को कौन तोड़ेगा और कैसे? लेकिन हमें विश्वास करना होगा कि अब दलित लेखक गुलामी की जंजीरों को तोड़कर आंबेडकर की चाहत का समाज बनाने का संकल्प कर चुके हैं। उनकी कलम दुष्ट गुरु द्रोणाचार्य के आगे झुकने से इन्कार करती है।

काट लिए थे एकलब्यों के अंगूठे जो
पूरी ताकत से उग आए
ऐ क्रांति के महानायक
स्वागत में तुम्हारे
आसमान की तरफ उठे हाथ
और जयघोष से भर उठा दिगत।

– दया पवार

बुद्ध के करूणा, प्रेम और शांति के दर्शन को अपनाकर दलित वर्ग ने अपने को समता के नए मार्ग पर चलते हुए पाया। वह सहिष्णुता और बहुजन–हिताय, बहुजन–सुखाय का समतावादी मार्ग है। लेकिन जिस विकराल नृशंस जातिव्यवस्था से संघर्ष करना हो तो उसके साथ उन्हें युद्ध तक करना मंजूर है। लेकिन इस द्विधा स्थिति में तथागत बुद्ध से कवि क्षमा की याचना करते हुए कहता है –

हे सिद्धार्थ
तुमने, साक्षात् मृत्युसमान अंगुलिमाल
को अपने सामर्थ्य के आगे झुका दिया

हम आप के अदने से अनुयायी
इस विकराल अंगुलिमाल से लड़ते हुए
गर युद्ध कर बैठे तो हे सिद्धार्थ
हमें क्षमा करना।

—दया पवार

दलित कविता में ऐतिहासिक और पैराणिक पात्रों के साथ उनके मिथकों का प्रयोग युगीन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए किया गया। शंबूक, एकलव्य, वाल्मीकि, व्यास, चार्वाक, कर्ण जैसे पात्रों की चारित्रिक विशेषता और क्रांति धर्मिता को युगीन संदर्भ से महत्वपूर्ण मानकर परंपरागत मूल्यों के विरोध के लिए उपयुक्त माना। दलित कवियों ने परंपरागत मिथकों को नकारकर अन्य मिथकों का उपयोग किया जो उनके लिए प्रासंगिक थे। ऐसे पात्र जो शोषण के शिकार बने थे, आज के शोषित दलितों के साथ एकाकार हो जाते हैं। मिथक और यथार्थ के गहरे संबंधों को मराठी के अलावा अन्य भाषायी दलित कवियों ने नया आयाम दिया—

मेरे वक्त के एकलव्य।
किसी द्रोणाचार्य के षड्यंत्र में फंसकर।
अपना अंगूठा नहीं देंगे।
क्योंकि उन्हें अर्जुन के गांडिव से निकले तीरों को तोड़ फेंकना है।

— दिलीप कठेरिया

दलित रनाकारों ने रचनात्मक धरातल पर अनेक प्रयोग किए, जिसे हम देख सकते हैं आज के ऐतिहासिक सत्य को कल्पना के द्वारा एक नए नियम में बदल देगा। जो आने वाली सदियों का आदर्श बने दलित वर्ग के मन में डॉ. आंबेड़कर की प्रतिमा एक नेता, प्रणेता और दलित समाज के उद्धारक की है। इस प्रतिमा को दलित कवि एक नये मिथक के रूप में इस्तेमाल करते हैं। रा.ग. जाधव ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'नीले पहाड़' में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। ''इन कविताओं में अपने समय के इतिहास को प्रेरक पुराण कथाएं बनते हुए देख सकते हैं, जिसमें दलित समूह मन अपनी स्मृति को चिरंतन रूप देने का प्रयत्न करती है। यहां इतिहास के मूर्त रूप को दलित कल्पनाशक्ति अमूर्त रूप देकर चिरजीव बनाने में प्रयत्नशील है। प्रकृति और मानव जीवन के सत्य अगर मिथक में कल्पनाशक्ति के प्रेरक रूप में बिबिंत होते हों और वे सत्य मिथक के रूप में अंकित और स्वीकृत हो जाते हों तो मिथ की यही निर्मित प्रक्रिया दलित कवियों की डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर पर लिखी कविताओं में दिखाई देती है।''

नामदेव ढसाल की कविता में इस अनोखे प्रयोग को सफलतापूर्वक देख सकते हैं—

जो जाता है स्वतंत्रता से स्वतंत्रता की ओर
वह तू एक अकेला हमारे रथ का सारथी
जो दिग्विजयी तन्द्रा से उतरता है हम में।
औ खेतों में भीड़ में मोर्च में औ
लड़ाई में रहता है संग संग।

मराठी के बाद लगभग पिछले तीन दशकों से आज हिन्दी के अलावा तेलुगू, कन्नड़, तमिल, पंजाबी, उड़िया, बंगला, असमी, गुजराती, भोजपुरी और मलयालम में दलित साहित्य रचनाए सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के बृहद् उद्देश्य को लेकर प्रचुर मात्रा में लिखी गई। डॉ. आंबेडकर की विचार चेतना का स्फुलिंग अब देश के कौने कोने तक पहुँचकर रचनात्मक पहल के द्वारा सामाजिक, आर्थिक क्रांति के माध्यम से समाज व्यवस्था को बदलना चाहता है।

मैं हारता रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि
मैं जीतूंगा ही नहीं। हारना तो
तब होता है। जब। युद्ध
समाप्त हो जाय। — पूरन सिंह

जो मुक्ति की तलाश में समाप्त होती है। दलित कविता में आत्मसजग अभिव्यक्तियों में एक प्रखर स्वर सम्मिलित है, जो तिहरे शोषण के प्रतिरोध के लिए फूट पड़ा है। मनु द्वारा लादी गई उत्पीडित, अपमानित, शोषित जीवन की तलहटी से उठता यह तीव्र स्वर दलित चेतना को विकसित हीं नहीं अधिक तेजस्वी बना रहा है। जाति, लिंग और वर्ग आधारित तिहरे शोषण को झेलती–दलित स्त्री उन विषमावादी नैतिक मूल्यों, पुरुषसत्ताओं की आधीनता की राजनीति को नकारती है। एक स्वतंत्रचेता मानवी के रूप में सामाजिक समता, आर्थिक समता और लिंग आधारित समता की हकदार बह इस सामाजिक यथार्थ को बदलना चाहती है। उसके अस्मिता के संघर्ष की अभिव्यक्ति इन शब्दों में होती है–

मैं कटी झाड़ियों में फंसकर
तड़फने वाली गोरैया हूँ
किसी भी तरफ हिलू
कॉटे चुभेंगे मुझे ही
ये आज के काटे नहीं
पीढ़ियों से मेरे इद–गिर्द फैलाई
गुलामी की जंजीरें हैं
अरे हां, अपनी जिंदगी को मैंने जिया ही कब?

— चल्लापल्ली स्वरूपारानी

पितृसत्ता की मार को झेलना उसे मंजूर नहीं मातृसत्ता की पराजय करने वाली पितृसत्ता ने कुटिल राजनीति से उसके संपूर्ण व्यक्तित्व, अस्तित्व और अस्मिता को कुचल डाला। वह चाहे सवर्ण पुरूष है अथवा उसके अपने वर्ग दलित का दोनो ही पुरुष अहंकार के दर्प में डूबे दलित स्त्री को अपमानित करने का मौका नहीं छोड़ते। सवर्ण पुरुष की नजर में वह केवल भोग की वस्तु है, मनु के वरदान को वह आज तक अधिकार की तरह इस्तेमाल करने में शर्माता नहीं। उसके श्रम को दोहन करके दलित पुरुष भी उसे दोयम स्थान पर रखकर पुरुष होने का सुख भोगता है। तब वह विद्रोहिणी बनकर अपना हक लेने को उठती है, यह नारी मुक्ति का गान भी है और शोषण मुक्ति की कार्रवाई भी–

फिर से इतिहास नया रच डालें
वह होगा, नयी चेतना पर आधारित
नहीं होगी जिसमें कुंठित कथाएँ सामाजिक
सबके हित में, सभी बातें होगी प्रामाणिक
विद्रोहिणी बन चीखती हूँ
गूँजती है आवाज सब दिशाओं में
मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं।

—सुशीला टाकभौरें

दलित कविता केवल कविता नहीं है, वह सदियों पुरानी विषमतामूलक सनातनी परंपराओं को दफन करने की एक विचारधारात्मक कार्रवाई है। चेतनागर्भ यह मानव अधिकारों का संघर्ष उस अमानुषिक व्यवस्था के विरुद्ध किया जा रहा जो मानव गरिमा को गिराकर परजीवी संस्कृति का निर्माता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसे पाकर दलित वर्ग स्वाधीनता की उम्मीद करता है—

हत्याओं से लेकर/कातिलाना हमलों के बीच
आबरू उतारने से लेकर/अंगभंग करने के बीच
गांवों और मंदिरों से खदेड़ने के बीच
कलम मुझे चीखकर पूछती है। क्या कर रहे हो
कवि! कविता क्या हथियार नहीं बन सकती।

—सतनाम सिंह

दलित लेखन ने केवल वर्चस्ववादी सनातनी चिन्तन एवं साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण ही नहीं किया बल्कि अवसरवादी दलित लेखकों, चिन्तकों के अम्बेडकरवाद विरोधी मंसूबों को भी समय—समय पर बेनकाब किया। दलित लेखन ने यह निर्धारित किया कि बुद्ध, फुले, एवं बाबा साहेब के दर्शन विरोधी, खण्डन विरोधी लेखन को दलित लेखन के दायरे में नहीं माना जाएगा। दलित लेखन की मान्यता के लिए बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की वैचारिकी को मानकर चलने वाला लेखन ही दलित साहित्य के दायरे के भीतर माना जाना चाहिए। लेखन में इनके प्रति सम्मान का भाव होना चाहिए। दलित साहित्य एवं बैचारिकी की किन्हीं बातों से असहमति होना नकारात्मक नहीं है लेकिन इनका विरोध करना प्रतिक्रियावादी एवं दलित लेखन, आंदोलन विरोधी कार्य माना जाना चाहिए। दलित लेखन एवं आंदोलन ऐसे उन सभी प्रतिक्रियावादी दलित, स्त्री विरोधी वैचारिकी एवं लेखकों का विरोध करता है और उन्हें दलित चिन्तक एवं साहित्यकार के दायरे से बाहर मानकर चलता है। बात बहुत सीधी सी है, बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की वैचारिकी का विरोधी समस्त दलित आंदोलन का विरोधी है।

दलित लेखन व्यापक परिवर्तनकारी उद्देश्यों को लेकर चल रहा है। दलित लेखन जहां एक और समाज में सकारात्मक परिवर्तन करके समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहता है वहीं वह वर्चस्ववादी उत्पीड़नकारी संस्कृति और मूल्यव्यवस्था को भी समाप्त करना चाहता है। वहीं वह वर्चस्ववादी उत्पीड़नकारी संस्कृति और

मूल्यव्यवस्था को भी समाप्त करना चाहता है। यह एक ऐसे समाज की संकल्पना का पक्षधर है जिसमें कोई किसी का शोषण न करे। किसी विशेष जाति को ही 'योग्यता' का आधार न माना जाए। जाति, वर्ग, लिंग, रंग, और धर्म के आधार पर कोई भेदभाव न हो। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दलित साहित्य एवं लेखन निरंतर प्रयासरत है।

मेरे हाथ में शक्ति रूपी हरा जंगल
पल्लवित हो रहा है
चेतना रूपी बसंत में
या कि सत्य का सूर्य
कंकालों के आतनाद से
उतर रहा है धीरे से।

– विचित्रानंद नायक

अतः भारतीय दलित कविता की भीतरी बुनावट में वैचारिक और प्रतिरोधात्मक एकता का स्वर मौजूद है।